# श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

## UG-11.22 - पंचम सोपान (अर्थ)

**उद्धव उवाच**

**कति तत्त्वानि विश्वेश, सं(ङ्)ख्यातान्यृषिभिः(फ्) प्रभो ।**

**नवैकादश पं(ञ्)च त्रीण्- यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥ 1॥**

उद्धव जी ने कहा- 'प्रभो! विश्वेश्वर! ऋषियों ने तत्त्वों की संख्या कितनी बतलायी है? आपने तो अभी (उन्नीसवें अध्याय में) नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं। यह तो हम सुन चुके हैं।

**केचित् षड्विं(म्)शतिं(म्) प्राहु- रपरे पं(ञ्)चविं(म्)शतिम्।**

**सप्तैके नव षट् केचिच्-चत्वार्येकादशापरे ॥ 2॥**

किन्तु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पचीस; कोई सात, नौ अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह।

**केचित् सप्तदश प्राहुः(ष्), षोडशैके त्रयोदश।**

**एतावत्त्वं(म्) हि सं(ङ्)ख्याना- मृषयो यद्विवक्षया ।**

**गायन्ति पृथगायुष्मन्- निदं(न्) नो वक्तुमर्हसि ॥ 3॥**

इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं ऋषि-मुनियों के मत में उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं। सनातन श्रीकृष्ण! ऋषि-मुनि इतनी भिन्न संख्याएँ किस अभिप्राय से बतलाते हैं? आप कृपा करके हमें बतलाइये।

**श्रीभगवानुवाच**

**युक्तं(ञ्) च सन्ति सर्वत्र ,भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।**

**मायां(म्) मदीयामुद्गृह्य ,वदतां(ङ्) किं(न्) नु दुर्घटम् ॥ 4॥**

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- उद्धव जी! वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषय में जो कुछ कहते हैं, वह सभी ठीक है; क्योंकि सभी तत्त्व सब में अन्तर्भूत हैं। मेरी माया को स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है?

नैतदेवं(यँ) यथाऽऽत्थ त्वं(यँ), यदहं(वँ) वच्मि तत्तथा ।
एवं(वँ) विवदतां(म्) हेतुं(म्), शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ 5॥

जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही यथार्थ है'-इस प्रकार जगत् के कारण के सम्बन्ध में विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियों-सत्त्व, रज आदि गुणों और उनकी वृत्तियों का रहस्य लोग समझ नहीं पाते; इसलिये वे अपनी-अपनी मनोवृत्ति पर ही आग्रह कर बैठते हैं।

यासां(वँ) व्यतिकरादासीद्, विकल्पो वदतां(म्) पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति ,वादस्तमनुशाम्यति ॥ 6॥

सत्त्व आदि गुणों के क्षोभ से ही यह विविध कल्पनारूप प्रपंच-जो वस्तु नहीं केवल नाम-उठ खड़ा हुआ है। यही वाद-विवाद करने वालों के विवाद का विषय है। जब इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं तथा चित्त शान्त हो जाता है, तब यह प्रपंच भी निवृत्त हो जाता है और इसकी निवृत्ति के साथ ही सारे वाद-विवाद भी मिट जाते हैं।

परस्परानुप्रवेशात्, तत्त्वानां(म्) पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसं(ङ्)ख्यानं(यँ) ,यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ 7॥

पुरुष-शिरोमणे! तत्त्वों का एक-दूसरे में अनुप्रवेश है, इसलिये वक्ता तत्त्वों की जितनी संख्या बतलाना चाहता है, उसके अनुसार कारण को कार्य में अथवा कार्य को कारण में मिलाकर अपनी इच्छित संख्या सिद्ध कर लेता है।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते , प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा , तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ 8॥

ऐसा देखा जाता है कि एक ही तत्त्व में बहुत-से दूसरे तत्त्वों का अन्तर्भाव हो गया है। इसका कोई बन्धन नहीं है कि किसका किसमें अन्तर्भाव हो। कभी घट-पट आदि कार्य वस्तुओं का उनके कारण मिट्टी-सूत आदि में, तो कभी मिट्टी-सूत आदि का घट-पट आदि कार्यों में अन्तर्भाव हो जाता है।

पौर्वापर्यमतोऽमीषां(म्), प्रसं(ङ्)ख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं(यँ) यद्वक्त्रं(ङ्), गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ 9॥

इसलिये वादी-प्रतिवादियों में से जिसकी वाणी ने जिस कार्य को जिस कारण में अथवा जिस कारण को जिस कार्य में अन्तर्भूत करके तत्त्वों की जितनी संख्या स्वीकार की है, वह हम निश्चय ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनका वह उपपादन युक्तिसंगत ही है।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य , पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्- तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥ 10॥

उद्धव जी! जिन लोगों ने छब्बीस संख्या स्वीकार की है, वे ऐसा कहते हैं कि जीव अनादि काल से अविद्या से ग्रस्त हो रहा है। वह स्वयं अपने-आपको नहीं जान सकता। उसे आत्मज्ञान कराने के लिये किसी अन्य सर्वज्ञ की आवश्यकता है।

**पुरुषेश्वरयोरत्र, न वैलक्षण्यमण्वपि ।**

**तदन्यकल्पनापार्था, ज्ञानं(ञ्) च प्रकृतेर्गुणः ॥ 11॥**

पचीस तत्त्व मानने वाले कहते हैं कि इस शरीर में जीव और ईश्वर का अणुमात्र भी अन्तर या भेद नहीं है, इसलिये उसे भेद की कल्पना व्यर्थ है। रही ज्ञान की बात, सो तो सत्त्वात्मिका प्रकृति का गुण है।

**प्रकृतिर्गुणसाम्यं(वँ) वै, प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।**

**सत्त्वं(म्) रजस्तम इति , स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥ 12॥**

तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है; इसलिये सत्त्व, रज आदि गुण आत्मा के नहीं, प्रकृति के ही हैं। इन्हीं के द्वारा जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय हुआ करते हैं। इसलिये ज्ञान आत्मा का गुण नहीं, प्रकृति का ही गुण सिद्ध होता है।

**सत्त्वं(ञ्) ज्ञानं((म्) रजः(ख्) कर्म ,तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।**

**गुणव्यतिकरः(ख्) कालः(स्), स्वभावः(स्) सूत्रमेव च ॥ 13॥**

इस प्रसंग में सत्त्वगुण ही ज्ञान है, रजोगुण ही कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहा गया है। और गुणों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला ईश्वर ही काल है और सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व ही स्वभाव है।

**पुरुषः(फ्) प्रकृतिर्व्यक्त- महं(ङ्)कारो नभोऽनिलः ।**

**ज्योतिरापः क्षितिरिति , तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥ 14॥**

उद्धव जी! पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-ये नौ तत्त्व मैं पहले ही गिना चुका हूँ।

**श्रोत्रं(न्) त्वग्दर्शनं(ङ्) घ्राणो, जिह्वेति ज्ञानशक्तयः ।**

**वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रि- कर्माण्यं(ङ्)गोभयं(म्) मनः ॥ 15॥**

श्रोत्र, त्वचा , चक्षु नासिका और रसना- यह 5 ज्ञानेंद्रियां ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ- यह पांच कर्मेंद्रियां; तथा मन जो कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय दोनों ही है ।

**शब्दः(स्) स्पर्शो रसो गन्धो, रूपं(ञ्) चेत्यर्थजातयः ।**

**गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि, कर्मायतनसिद्धयः ॥ 16॥**

इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये ज्ञानेद्रियों के पाँच विषय। इस प्रकार तीन, नौ, ग्यारह और पाँच-सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। कर्मेन्द्रियों के द्वारा होने वाले

पाँच कर्म-चलना, बोलना, मल त्यागना, पेशाब करना और काम करना-इनके द्वारा तत्त्वों की संख्या नहीं बढ़ती। इन्हें कर्मेन्द्रियस्वरूप ही मानना चाहिये।

**सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य, कार्यकारणरूपिणी ।**

**सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते, पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥ 17॥**

सृष्टि के आरम्भ में कार्य और कारण के रूप में प्रकृति ही रहती है। वही सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुण की सहायता जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और संहार सम्बन्धी अवस्थाएँ धारण करती है। अव्यक्त पुरुष तो प्रकृति और उसकी अवस्थाओं का केवल साक्षीमात्र बना रहता है।

**व्यक्तादयो विकुर्वाणा ,धातवः(फ्) पुरुषेक्षया ।**

**लब्धवीर्याः(स्) सृजन्त्यण्डं(म्), सं(म्)हताः(फ्) प्रकृतेर्बलात् ॥ 18॥**

महत्तत्त्व आदि कारण धातुएँ विकार को प्राप्त होते हुए पुरुष के ईक्षण से शक्ति प्राप्त करके परस्पर मिल जाते हैं और प्रकृति का आश्रय लेकर उसी के बल से ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं।

**सप्तैव धातव इति ,तत्रार्थाः(फ्) पं(ञ्)च खादयः ।**

**ज्ञानमात्मोभयाधारस् - ततो देहेन्द्रियासवः ॥ 19॥**

उद्धव जी! जो लोग तत्त्वों की संख्या सात स्वीकार करते हैं, उनके विचार से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-ये पाँच भूत, छठा जीव और सातवाँ परमात्मा-जो साक्षी जीव और साक्ष्य जगत् दोनों का अधिष्ठान है-ये ही तत्त्व हैं। देह, इन्द्रिय और प्राणादि की उत्पत्ति तो पंचभूतों से ही हुई है।

**षडित्यत्रापि भूतानि ,पं(ञ्)च षष्ठः(फ्) परः(फ्) पुमान् ।**

**तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः(स्), सृष्ट्वेदं(म्) समुपाविशत् ॥ 20॥**

जो लोग केवल छः तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि पाँच भूत हैं और छठा है परम पुरुष परमात्मा। वह परमात्मा अपने बनाये हुए पंचभूतों से युक्त होकर देह आदि की सृष्टि करता है और उनमें जीवरूप से प्रवेश करता है।

**चत्वार्येवेति तत्रापि , तेज आपोऽन्नमात्मनः ।**

**जातानि तैरिदं(ञ्) जातं(ञ्), जन्मावयविनः(ख्) खलु ॥ 21॥**

जो लोग कारण के रूप में चार ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा से तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है और जगत् में जितने पदार्थ हैं, सब इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। वे सभी कार्यों का इन्हीं में समावेश कर लेते हैं।

**सं(ङ्)ख्याने सप्तदशके, भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।**

पं(ञ्)च पं(ञ्)चैकमनसा ,आत्मा सप्तदशः(स्) स्मृतः ॥ 22॥

जो लोग तत्त्वों की संख्या सत्रह बतलाते हैं, वे इस प्रकार गणना करते हैं-पाँच भूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेद्रियाँ, एक मन और एक आत्मा।

तद्वत् षोडशसं(ङ्)ख्याने , आत्मैव मन उच्यते ।

भूतेन्द्रियाणि पं(ञ्)चैव , मन आत्मा त्रयोदश ॥ 23॥

जो लोग तत्त्वों की संख्या सोलह बतलाते हैं, उनकी गणना भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे आत्मा में मन का भी समावेश कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी तत्त्व संख्या सोलह रह जाती हैं। जो लोग तेरह तत्त्व मानते हैं, वे कहते हैं कि आकाशादि पाँच भूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन, एक जीवात्मा और परमात्मा-ये तेरह तत्त्व हैं।

एकादशत्व आत्मासौ ,महाभूतेन्द्रियाणि च ।

अष्टौ प्रकृतयश्चैव , पुरुषश्च नवेत्यथ ॥ 24॥

ग्यारह संख्या मानने वालों ने पाँच भूत, पाँच ज्ञानेद्रियाँ और इनके अतिरिक्त एक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है। जो लोग नौ तत्त्व मानते हैं, वे आकाशादि पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार-ये आठ प्रकृतियाँ और नवाँ पुरुष-इन्हीं को तत्त्व मानते हैं।

इति नानाप्रसं(ङ्)ख्यानं(न्), तत्त्वानामृषिभिः(ख्) कृतम् ।

सर्वं(न्) न्याय्यं(यँ) युक्तिमत्त्वाद् ,विदुषां(ङ्) किमशोभनम् ॥ 25॥

उद्धव जी! इस प्रकार ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों की गणना की है। सबका कहना उचित ही है, क्योंकि सबकी संख्या युक्तियुक्त है। जो लोग तत्त्वज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मत में बुराई नहीं दीखती। उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है।

उद्धव उवाच

प्रकृतिः(फ्) पुरुषश्चोभौ ,यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।

अन्योन्यापाश्रयात् कृष्ण, दृश्यते न भिदा तयोः ॥26॥

उद्धव जी ने कहा- 'श्यामसुन्दर! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष-दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि वे आपस में इतने घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनका भेद नहीं जान पड़ता।

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा , प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि ।

एवं(म्) मे पुण्डरीकाक्ष ,महान्तं(म्) सं(म्)शयं(म) हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ , वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ 27॥

प्रकृति में परुष और पुरुष में प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता स्पष्ट कैसे हो? कमलनयन श्रीकृष्ण! मेरे हृदय में इनकी भिन्नता और अभिन्नता को लेकर बहुत बड़ा सन्देह है। आप तो सर्वज्ञ हैं, अपनी युक्तियुक्त वाणी से मेरे सन्देह का निवारण कर दीजिये।

त्वत्तो ज्ञानं(म्) हि जीवानां(म्), प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया , गतिं(वँ) वेत्थ न चापरः ॥ 28॥

भगवन्! आपकी ही कृपा से जीवों को ज्ञान होता है और आपकी माया-शक्ति से ही उनके ज्ञान का नाश होता है। अपनी आत्मस्वरूपिणी माया की विचित्र गति आप ही जानते हैं और कोई नहीं जानता। अतएव आप ही मेरा सन्देह मिटाने में समर्थ हैं।

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिः(फ्) पुरुषश्चेति ,विकल्पः(फ्) पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः(स्) सर्गो, गुणव्यतिकरात्मकः ॥ 29॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- उद्धव जी! प्रकृति और पुरुष, शरीर और आत्मा-इन दोनों में अत्यन्त भेद है। इस प्राकृत जगत् में जन्म-मरण एवं वृद्धि-ह्रास आदि विकार लगे ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणों के क्षोभ से ही बना है।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥ 30॥

प्रिय मित्र! मेरी माया त्रिगुणात्मिक है। वही अपने सत्त्व, रज आदि गुणों से अनेकों प्रकार की भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है। यद्यपि इसका विस्तार असीम है, फिर भी इस विकारात्मक सृष्टि को तीन भागों में बाँट सकते हैं। वे तीन भाग हैं-अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत।

दृग् रूपमार्कं(वँ) वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं(म्) सिध्यति यः(स्) स्वतः(ख्) खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः(स्)
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं(न्) त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥ 31॥

उदाहरणार्थ-नेत्रेन्द्रिय अध्यात्म है, उसका विषयरूप अधिभूत है और नेत्र-गोलक में स्थित सूर्य देवता का अंश अधिदैव है। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हैं और इसलिये अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। परन्तु आकाश में स्थित सूर्यमण्डल इन तीनों की अपेक्षा से मुक्त है, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा भी उपर्युक्त तीनों भेदों का मूल कारण, उनका साक्षी और उनसे परे हैं। वही अपने स्वयंसिद्ध प्रकाश से समस्त सिद्ध पदार्थों की मूलसिद्धि है। उसी के द्वारा सबका प्रकाश होता है। जिस प्रकार चक्षु के तीन भेद बताये गये, उसी प्रकार त्वचा, श्रोत, जिह्वा, नासिका और चित्त आदि के भी तीन-तीन भेद हैं।

**योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः(फ्)**
**प्रधानमूलान्महतः(फ्) प्रसूतः ।**
**अहं(न्) त्रिवृन्मोहविकल्पहेतुर्-**
**वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥ 32॥**

प्रकृति से महत्तत्त्व बनता है और महत्तत्त्व से अहंकार। इस प्रकार यह अहंकार गुणों के क्षोभ से उत्पन्न हुआ प्रकृति का ही एक विकार है। अहंकार के तीन भेद हैं-सात्त्विक, तापस और राजस। यह अहंकार ही अज्ञान और सृष्टि की विविधता का मूल कारण है।

**आत्मा परिज्ञानमयो विवादो**
**ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।**
**व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुं(म्)सां(म्)**
**मत्तः(फ्) परावृत्तधियां(म्) स्वलोकात् ॥ 33॥**

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका इन पदार्थों से न तो कोई सम्बन्ध है और न उसमें कोई विवाद की ही बात है। अस्ति-नास्ति, सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूप से जितने भी वाद-विवाद हैं, सबका मूल कारण भेददृष्टि ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विवाद का कोई प्रयोजन नहीं है; यह सर्वथा व्यर्थ है तथापि जो लोग मुझसे-अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख हैं, वे इस विवाद से मुक्त नहीं हो सकते।

**उद्धव उवाच**
**त्वत्तः(फ्) परावृत्तधियः(स्) , स्वकृतैः(ख्) कर्मभिः(फ्) प्रभो ।**
**उच्चावचान् यथा देहान् , गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥ 34॥**

उद्धव जी ने पूछा- 'भगवन्! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापों के फलस्वरूप ऊँची-नीची

योनियों में जाते-आते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, अकर्ता का कर्म करना और नित्य-वस्तु का जन्म-मरण कैसे सम्भव है?

**तन्ममाख्याहि गोविन्द ,दुर्विभाव्यमनात्मभिः ।**

**न ह्येतत् प्रायशो लोके ,विद्वां(म्)सः(स्) सन्ति वं(ञ्)चिताः॥ 35॥**

गोविन्द! जो लोग आत्मज्ञान से रहित हैं, वे तो इस विषय को ठीक-ठीक सोच भी नही सकते और इस विषय के विद्वान् संसार में प्रायः मिलते नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी माया की भूल-भुलैया में पड़े हुए हैं। इसलिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझाइये।

**श्रीभगवानुवाच**

**मनः(ख्) कर्ममयं(न्) नृणा- मिन्द्रियैः(फ्) पं(ञ्)चभिर्युतम्।**

**लोकाल्लोकं(म्) प्रयात्यन्य , आत्मा तदनुवर्तते ॥ 36॥**

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! मनुष्यों का मन कर्म-संस्कारों का पुंज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसी का नाम है लिंगशरीर। वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में आता-जाता रहता है। आत्मा इस लिंगशरीर से सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपने को लिंगशरीर ही समझ बैठता है, उसी में अहंकार कर लेता है, तब उसे भी अपना जाना-आना प्रतीत होने लगता है।

**ध्यायन् मनोऽनु विषयान् ,दृष्टान् वानुश्रुतानथ ।**

**उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं(म्), स्मृतिस्तदनु शाम्यति ॥ 37॥**

मन कर्मों के अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयों का चिन्तन करने लगता है और क्षण भर में ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयों में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वा पर का अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है।

**विषयाभिनिवेशेन ,नात्मानं(यँ) यत् स्मरेत् पुनः ।**

**जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर् - मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥ 38॥**

उन देवादि शरीरों में इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीव को अपने पूर्व शरीर का स्मरण भी नहीं रहता। किसी भी कारण से शरीर को सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है।

**जन्म त्वात्मतया पुं(म्)सः(स्), सर्वभावेन भूरिद ।**

**विषयस्वीकृतिं(म्) प्राहुर् -यथा स्वप्नमनोरथः ॥ 39॥**

उदार उद्धव! जब यह जीव किसी भी शरीर को अभेद-भाव से 'मैं' के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नकालीन और मनोरथकालीन शरीर में अभिमान करना ही स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है।

स्वप्नं(म्) मनोरथं(ञ्) चेत्थं(म्), प्राक्तनं(न्) न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मान- मपूर्वं(ञ्) चानुपश्यति ॥ 40॥

यह वर्तमान देह में स्थित जीव जैसे पूर्वदेह का स्मरण नहीं करता, वैसे ही स्वप्न या मनोरथ में स्थित जीव भी पहले के स्वप्न और मनोरथ को स्मरण नहीं करता, प्रत्युत उस वर्तमान स्वप्न और मनोरथ में पूर्वसिद्ध होने पर भी अपने को नवीन-सा ही समझता है।

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं(न्), त्रैविध्यं(म्) भाति वस्तुनि ।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्- जनोऽसज्जकृद् यथा ॥41॥

इन्द्रियों के आश्रय मन या शरीर की सृष्टि से आत्मवस्तु में यह उत्तम, मध्यम और अधम की त्रिविधता भासती है। उसमें अभिमान करने से ही आत्मा बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का हेतु मालूम पड़ते लगता है, जैसे दुष्ट पुत्र को उत्पन्न करने वाला पिता पुत्र के शत्रु-मित्र आदि के लिये भेद का हेतु हो जाता है।

नित्यदा ह्यं(ङ्)ग भूतानि ,भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन ,सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥ 42॥

प्यारे उद्धव! काल की गति सूक्ष्म है। उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। सूक्ष्म होने के कारण ही प्रतिक्षण होने वाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते।

यथार्चिषां(म्) स्रोतसां(ञ्) च , फलानां(वँ) वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां(वँ), वयोऽवस्थादयः(ख्) कृताः ॥ 43॥

जैसे काल के प्रभाव से दिये की लौ, नदियों के प्रवाह अथवा वृक्ष के फलों की विशेष-विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियों के शरीरों की आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती है।

सोऽयं(न्) दीपोऽर्चिषां(यँ) यद् - वत्स्रोतसां(न्) तदिदं(ञ्) जलम् ।
सोऽयं(म्) पुमानिति नृणां(म्) ,मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥ 44॥

जैसे यह उन्हीं ज्योतियों का वही दीपक है, प्रवाह का यह वही जल है-ऐसा समझना और कहना मिथ्या है, वैसे ही विषय-चिन्तन में व्यर्थ आयु बिताने वाले अविवेकी पुरुषों का ऐसा कहना और समझना कि यह वही पुरुष है, सर्वथा मिथ्या है।

मा स्वस्य कर्मबीजेन ,जायते सोऽप्ययं(म्) पुमान् ।

म्रियते वामरो भ्रान्त्या ,यथाग्निर्दारुसं(यँ)युतः ॥ 45॥

यद्यपि वह भ्रान्त पुरुष भी अपने कर्मों के बीज द्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है; वह भी अजन्मा और अमर ही है, फिर भी भ्रान्ति से वह उत्पन्न होता है और मरता-सा भी है, जैसे कि काष्ठ से युक्ति अग्नि पैदा होता और नष्ट होता दिखायी पड़ता है।

निषेकगर्भजन्मानि , बाल्यकौमारयौवनम् ।

वयोमध्यं(ञ्) जरा मृत्यु-रित्यवस्थास्तनोर्नव॥ 46॥

उद्धव जी! गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, अधेड़ अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु-ये नौ अवस्थाएँ शरीर की ही हैं।

एता मनोरथमयीर्- ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः।

गुणसं(ङ्)गादुपादत्ते, क्वचित् कश्चिज्जहाति च ॥ 47॥

यह शरीर जीव से भिन्न है और ये ऊँची-नीची अवस्थाएँ उसके मनोरथ के अनुसार ही हैं; परन्तु वह अज्ञानवश गुणों के संग से इन्हें अपनी मानकर भटकने लगता है और कभी-कभी विवेक हो जाने पर इन्हें छोड़ भी देता है।

आत्मनः(फ्) पितृपुत्राभ्या- मनुमेयौ भवाप्ययौ ।

न भवाप्ययवस्तूना -मभिज्ञो द्वयलक्षणः॥ 48॥

पिता को पुत्र के जन्म से और पुत्र को पिता की मृत्यु से अपने-अपने जन्म-मरण का अनुमान कर लेना चाहिये। जन्म-मृत्यु से युक्त देहों का दृष्टा जन्म और मृत्यु से युक्त शरीर नहीं है।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां(यँ), यो विद्वां(ञ्)जन्मसं(यँ)यमौ ।

तरोर्विलक्षणो द्रष्टा, एवं(न्) द्रष्टा तनोः(फ्) पृथक् ॥ 49॥

जैसे जौ-गेंहूँ आदि की फसल बोने पर उग आती है और पक जाने पर काट दी जाती है, किन्तु जो पुरुष उनके उगने और काटने का जानने वाला साक्षी है, वह उनसे सर्वथा पृथक् है; वैसे ही जो शरीर और उसकी अवस्थाओं का साक्षी है, वह शरीर से सर्वथा पृथक् है।

प्रकृतेरेवमात्मान- मविविच्याबुधः(फ्) पुमान् ।

तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः(स्), सं(म्)सारं(म्) प्रतिपद्यते ॥ 50॥

अज्ञानी परुष इस प्रकार प्रकृति और शरीर से आत्मा का विवेचन नहीं करते। वे उसे उनसे तत्त्वतः अलग अनुभव नहीं करते और विषय भोग में सच्चा सुख मानने लगते हैं तथा उसी में मोहित हो जाते हैं। इसी से उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसार में भटकना पड़ता है।

सत्त्वसं(ङ्)गादृषीन् देवान्, रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं(म्), भ्रामितो याति कर्मभिः ॥ 51॥

जब अविवेकी जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकने लगता है, तब सात्त्विक कर्मों की आसक्ति से वह ऋषिलोक और देवलोक में राजसिक कर्मों की आसक्ति से मनुष्य और असुरयोनियों में तथा तामसी कर्मों की आसक्ति से भूत-प्रेत एवं पशु-पक्षी आदि योनियों में जाता है।

नृत्यतो गायतः(फ्) पश्यन्, यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्- ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥52॥

जब मनुष्य किसी को नाचते-गाते देखता है, तब वह स्वयं भी उसका अनुकरण करने-तान तोड़ने लगता है। वैसे ही जब जीव बुद्धि के गुणों को देखता है, तब स्वयं निष्क्रिय होने पर ही भी उसका अनुकरण करने के लिये बाध्य हो जाता है।

यथाम्भसा प्रचलता, तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन, दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥ 53॥

जैसे नदी-तालाब आदि के जल के हिलने या चंचल होने पर उसमें प्रतिबिम्बित तट के वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते-से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जाने वाले नेत्र के साथ-साथ पृथ्वी भी घुमती हुई-सी दिखायी देती है।

यथा मनोरथधियो, विषयानुभवो मृषा ।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह, तथा सं(म्)सार आत्मनः ॥ 54॥

जैसे जैसे मन के द्वारा सोचे गये तथा स्वप्न में देखे गये भोग पदार्थ सर्वथा मिथ्या ही होते हैं, वैसे ही हे दाशार्ह ! आत्मा का विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ही है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि, सं(म्)सृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य, स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ 55॥

विषयों के सत्य न होने पर भी जो जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसक यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्ति नहीं होता, जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व, विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं(म्), पश्य वैकल्पिकं(म्) भ्रमम् ॥ 56॥

प्रिय उद्धव! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होने वाली) इन्द्रियों से विषयों को मत भोगो। आत्म-विषयक अज्ञान से प्रतीत होने वाला सांसारिक भेद-भाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः(फ्), प्रलब्धोऽसूयितोऽथ वा ।

ताडितः(स्) सन्निबद्धो वा, वृत्त्या वा परिहापितः ॥ 57॥

असाधु पुरुष गर्दन पकड़कर बाहर निकाल दें, वाणी द्वारा अपमान करें, उपहास करें, निन्दा करें, मारें-पीटें, बांधें, आजीविका छीन लें,.....

निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्- बहुधैवं(म्) प्रकम्पितः ।

श्रेयस्कामः(ख्) कृच्छ्रगत, आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥ 58॥

ऊपर थूक दें, मूत दें अथवा तरह-तरह से विचलित करें, निष्ठा से डिगाने की चेष्टा करें; उसके किसी भी उपद्रव से क्षुब्ध न होना चाहिये; क्योंकि जो बेचारे अज्ञानी हैं, उन्हें परमार्थ का तो पता ही नहीं हैं। अतः जो अपने कल्याण का इच्छुक है, उसे सभी कठिनाइयों से अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा ही-किसी बाह्य साधन से नहीं-अपने को बचा लेना चाहिये। वस्तुतः आत्म-दृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एकमात्र साधन है।

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं(वँ), वद नो वदतां(वँ) वर ।

सुदुः(स्)सहमिमं(म्) मन्ये, आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥ 59॥

उद्धवजीने कहा- भगवन्! आप समस्त वक्ताओंके शिरोमणि हैं। मैं इस दुर्जनोसे किये गये तिरस्कारको अपने मनमें अत्यन्त असह्य समझता हूँ। अतः जैसे मैं इसको समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवनमें धारण कर सकूँ, वैसे हमें बतलाइये ।

विदुषामपि विश्वात्मन्, प्रकृतिर्हि बलीयसी ।

ऋते त्वद्धर्मनिरतान्, शान्तां(म्)स्ते चरणालयान् ॥ 60॥

विश्वात्मन्! जो आपके भागवत धर्म के आचरण में प्रेमपूर्वक संलग्न हैं, जिन्होंने आपके चरण कमलों का ही आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी दुष्टों के द्वारा किया हुआ तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेएकादशस्कन्धे द्वाविं(म्)शोऽध्यायः॥

**YouTube Full video link**

https://youtu.be/zZ0YRyYYxLo